International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 30-01-2026, Accepted: 01-03-2026, Published: 17-03-2026
Volume 8, Issue 1, 2026, Page No. 25-28

दलित साहित्य का वैकल्पिक सौन्दर्यबोधः स्थापित मानदंडों को चुनौती

भगवान साहु
सह आचार्य, हिंदी विभाग, डॉ. भीमराव अंबेडकर राजकीय, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, निंबाहेडा, राजस्थान, भारत

सारांश
साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, उसका संवेदनशील व्याख्याकार भी होता है। प्रत्येक युग का साहित्य अपने समय के सौन्दर्यबोध से अनुप्राणित होता है। जब सामाजिक परिस्थितियाँ परिवर्तित होती हैं, तब सौन्दर्यमूल्य भी पुनर्परिभाषित होते हैं। इसी परिवर्तनशीलता ने साहित्य को गतिशील बनाए रखा है। दलित साहित्य इसी परिवर्तनशील प्रक्रिया का परिणाम है। यह केवल साहित्यिक धारा नहीं, बल्कि सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना का आंदोलन है।
प्रस्तुत शोध आलेख स्थापित सौन्दर्यशास्त्रीय मानदंडों के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता को दलित साहित्य के संदर्भ में स्पष्ट करता है। परंपरागत संस्कृत एवं पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र जहाँ साहित्य की कलात्मकता, बिंब–योजना और अलंकरण को प्रमुखता देते रहे हैं, वहीं दलित साहित्य सामाजिक यथार्थ, अनुभव की प्रामाणिकता और मानवीय मूल्यों को केंद्र में रखता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ. सी. बी. भारती, डॉ. धर्मवीर तथा शरण कुमार लिंबाले जैसे चिंतकों के विचारों के आलोक में यह आलेख प्रतिपादित करता है कि दलित साहित्य का सौन्दर्यबोध समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मानवीय मूल्यों पर आधारित है। अतः इसे परंपरागत सौन्दर्य प्रतिमानों से नहीं, बल्कि उसके सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भों में मूल्यांकित किया जाना अपेक्षित है।

मूल शब्दः दलित साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र, अभिजात्य मूल्य, सामाजिक यथार्थ, अस्मिता, समता, स्वतंत्रता, न्याय, प्रतिबद्धता, वैकल्पिक मानदंड, सामाजिक परिवर्तन, नवचेतना।

साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक उपयोगिता के आधार पर किया जाना चाहिए, क्योंकि साहित्य केवल सौन्दर्याभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का संवाहक भी होता है। हिंदी साहित्य के इतिहास में अनेक अवसरों पर सामाजिक संदर्भों को समयानुकूल प्रतिष्ठा मिली है। विभिन्न युगों में सामाजिकता को व्यवहारिक धरातल पर स्वीकार करते हुए सौन्दर्यमूल्यों की परिवर्तनशीलता को मान्यता प्रदान की गई है। वस्तुतः साहित्य अपने समय के सौन्दर्यबोध को आत्मसात करके ही जन्म लेता है। उसमें अंतर्निहित सौन्दर्यमूल्य मूलतः मानव–मूल्य ही होते हैं, जो सामाजिकता से अनुप्राणित रहते हैं। मानव–केन्द्रित दृष्टि और सामाजिक प्रतिबद्धता साहित्य के सौन्दर्यबोध को निरंतर परिष्कृत, परिवर्धित और परिमार्जित करती रहती है।
उल्लेखनीय है कि जब सामाजिक स्थितियाँ और परिस्थितियाँ बदलती हैं, तो उनके साथ–साथ संदर्भ भी परिवर्तित होते हैं। परिणामस्वरूप सौन्दर्य और सौन्दर्यबोध भी स्वयं को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लेते हैं। इन परिवर्तनों से जूझते हुए साहित्य अपनी पूर्ववर्ती संरचना और प्रवृत्तियों से भिन्न रूप ग्रहण करता है। वह स्थिर नहीं रहता, बल्कि हर चरण पर नई ऊर्जा और नए सौन्दर्यबोध को आत्मसात करता हुआ आगे बढ़ता है। साहित्यकार अपनी रचनात्मक गतिशीलता के माध्यम से जड़ता को तोड़ता है और अपने सौन्दर्यबोध में सामाजिक चेतना को साथ लेकर चलता है। साहित्य की यह निरंतर परिवर्तनशीलता ही उसकी जीवंतता और प्रासंगिकता का प्रमाण है।

दलित साहित्य : एक वैचारिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन

दलित साहित्य मात्र साहित्यिक आंदोलन नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है। यह मुख्यधारा के उस पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्र से स्वयं को मुक्त करता है, जो संस्कृत काव्यशास्त्र और अभिजात्य मूल्यों से संचालित रहा है। दलित साहित्य ने अपनी प्रकृति और अनुभव–सत्य के अनुरूप नया सौन्दर्यशास्त्र निर्मित किया है, जिसमें 'अनुभव की प्रामाणिकता' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। दलित साहित्यकार यथार्थ को बिना लाग–लपेट प्रस्तुत करते हैं। उनके लिए सौन्दर्य कल्पना या अलंकरण में नहीं, बल्कि जीवन की कठोर सच्चाइयों के उद्घाटन में निहित है। यही कारण है कि दलित साहित्य के उदय के साथ सौन्दर्य की कसौटियाँ परिवर्तित हुई और परंपरागत प्रतिमानों की स्थिरता डगमगाने लगी। दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि में गौतम बुद्ध, कबीर, ज्योतिराव फुले और भीमराव अम्बेडकर जैसे विचारकों की समतामूलक चेतना विद्यमान है। अम्बेडकरवादी चिंतन—समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व—दलित साहित्य के सौन्दर्यमूल्य हैं।

दलित साहित्य का सौन्दर्यबोधः अनुभव की प्रामाणिकता

दलित साहित्य का मूल आधार अनुभव की सत्यता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार कविता जीवन की पीड़ा, संघर्ष और वर्तमान की सच्चाइयों का निर्भीक उद्घाटन है। उनके लिए कविता कला से अधिक जीवन की अदम्य लालसा की अभिव्यक्ति है – "मेरे लिए कविता कला से ज्यादा, जीवन की अदम्य लालसा, गतिशीलता की संवाहक है, जो हमारी पीड़ा, हमारे सुख – दुःख की अभिव्यक्ति है, जिसमें हम अपने वर्तमान का प्रतिबिम्ब शिद्दत के साथ देख सकें। जो जीवन की विद्रूपताओं से जूझने का हौंसला दे..... सच्ची और सही कविता है, जो सच को सच और झूठ को झूठ कहने का हौंसला रखती हो।"[1] यह दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि दलित साहित्य में कला जीवन के अधीन है, न कि जीवन कला के।
वस्तुतः दलित सर्जक अपनी रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग सामाजिक विरूपताओं को अभिव्यक्त करने में कर रहे हैं, जिनमें सदियों से संचित वेदना और संताप की सघन अनुभूति समाहित है। इसीलिए दलित साहित्य का केंद्र कलात्मक चमत्कार या अलंकरणप्रधान सौन्दर्यबोध नहीं, बल्कि जाति–आधारित सामाजिक संरचना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण रहा है। यही समाजशास्त्रीय चेतना और विवेक उनके लेखन की विशिष्ट पहचान बनते हैं। दलित साहित्यकारों के लिए साहित्य केवल रंजन या कलात्मक परितोष का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन का सशक्त साधन है। दरिद्रता, भूख, अन्याय और अत्याचार से जूझते समाज

के लिए कलावादी सौन्दर्यदृष्टि अपर्याप्त सिद्ध होती है। इस संदर्भ में सी. बी. भारती का स्पष्ट मत है कि "प्रतिबद्धता ही दलित साहित्य का सौन्दर्य–विधान है। दलित साहित्य – दलित लेखन दलित अस्मिता की तलाश है। .... यह सामाजिक संरचनाओं के परीक्षण तथा उन्हें छिन्न–भिन्न कर देने की अनबुझी प्यास है। वर्ण–व्यवस्था से उपजी अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही इसका मूल स्वर है, और जातिविहीन, वर्गविहीन समाज की संरचना इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है।"[2]

उल्लेखनीय है कि दलित साहित्यकारों की साहित्य–दृष्टि दलित साहित्य की उद्‌भव–प्रक्रिया से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। वे साहित्य को सामाजिक परिवर्तन के औजार के रूप में देखते हैं; उनसे मात्र सौन्दर्यानुभूति या आनंद की अपेक्षा नहीं की जा सकती। जो समुदाय पीढ़ियों से अभाव, अपमान और उत्पीड़न का दंश झेलता आया है, उसके संवेदनशील रचनाकारों के लिए केवल कलावादी सृजन पर्याप्त नहीं हो सकता। इसलिए उनकी अभिव्यक्ति में आक्रोश, प्रतिरोध और प्रश्नाकुलता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है –

"मुझे आनन्द नहीं देती कोई भी कला
सृष्टि की अलग–अलग लीला।
मैं कैसे रहूँ, शांत, संतुलित
छेदने लगते हैं सारे शास्त्र, पुराण, वेदांत
गला दबाने वाले अलग–अलग धर्मपंथ।"[3]

स्पष्टतः दलित साहित्य का सौन्दर्यबोध जीवन–मूल्यों के निष्कर्ष पर आधारित है, जो अम्बेडकरवादी विचारधारा से प्रेरित समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की भावना से अनुप्राणित है। भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में चले दलित आंदोलन ने परंपरागत आदर्शों और मान्यताओं से भिन्न एक नई सामाजिक चेतना तथा जीवन–दृष्टि की स्थापना की, जिसने दलित लेखन को नई ऊर्जा प्रदान की। इससे दलित साहित्यकारों में नवीन इतिहास–बोध का विकास हुआ और जर्जर मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन के लिए वैचारिक शक्ति प्राप्त हुई। दलित साहित्य, दलित मुक्ति के माध्यम से संपूर्ण मानव–मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त करता है। अतः इसके मूल्य मूलतः मानवीय मूल्य हैं, जिनकी स्थापना के लिए यह संघर्षरत है। सदियों की गुलामी और अपमान के अनुभव ने इसकी सौन्दर्य–दृष्टि को विशिष्ट बनाया है; इसलिए क्या सुंदर है और क्या असुंदर—इसका निर्णय भी अपने अनुभव–सत्य के आधार पर करता है। दलित साहित्यकार अपने परिवेश में सौन्दर्य की पहचान पारंपरिक मानकों से नहीं, बल्कि जीवन–संघर्ष की वास्तविकताओं से करता है। इसी कारण पारंपरिक सौन्दर्यशास्त्रीय मानदंडों के आधार पर दलित साहित्य का मूल्यांकन करना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः दलित साहित्य दलित जीवन की यातना, पीड़ा, आक्रोश, प्रतिरोध और संघर्ष से उपजी संवेदना का साहित्य है। इसका प्रमुख आधार अलंकारिक शैली नहीं, बल्कि सशक्त भाषा और प्रखर कथ्य है। अमानवीय जुल्म और सामाजिक अपमान को स्वर देने वाला यह साहित्य एक विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण करता है, जिसमें दलित जीवन का यथार्थ पूर्ण ईमानदारी और निर्भीकता के साथ अभिव्यक्त होता है। इस सन्दर्भ में डॉ. एन. सिंह की धारणा है कि "दलित साहित्य का शब्द सौन्दर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही सड़ी – गली परंपराओं पर बेदर्दी से चोट करता है। वह शोषण और अत्याचार के बीच हताश जीवन जीने वाले दलित को लड़ना सीखाता है। वह सिर पर पत्थर ढ़ोनें वाली मजदूर महिला को उसके अधिकारों के विषय में बतलाता है। उसे धर्म की भूल – भूलैया से निकाल कर शोषण से मुक्ति का मार्ग दिखाता है। उसके लिए जिस शाब्दिक प्रहार क्षमता की आवश्यकता है, वह उसमें है, और यही दलित साहित्य का शिल्प सौन्दर्य है।"[4]

परंपरागत सौन्दर्यशास्त्र और उसकी सीमाएँ

भारतीय काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति और ध्वनि को साहित्य का मूल आधार माना गया। पाश्चात्य आलोचना में भी कलात्मक संरचना और सौन्दर्यात्मक प्रभाव को प्रमुखता मिली। किंतु दलित साहित्य ने इन मानदंडों की सीमाओं को उजागर किया। यह साहित्य जीवन की कठोर सच्चाइयों को अभिव्यक्त करता है; अतः इसके मूल्यांकन हेतु सामाजिक यथार्थ को प्रमुख मानदंड मानना आवश्यक है। "दलित साहित्य सिर्फ एक साहित्यिक आन्दोलन भर नहीं है। दलित समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक,राजनीतिक आकांक्षाएँ साहित्य की भाषा में व्यक्त हो रही है। इसलिए वह हिन्दी की मुख्यधारा के उस सौन्दर्यशास्त्र के वर्चस्व से मुक्त है, जो संस्कृत के काव्यशास्त्र से जुड़ा हुआ है।"[5]

दलित साहित्यकारों के आदर्श गौतम बुद्ध, कबीर, रैदास, ज्योतिराव फुले और भीमराव अम्बेडकर जैसे चिंतक हैं, जिन्होंने न केवल सामाजिक व्यवस्था को चुनौती दी, बल्कि अभिव्यक्ति और चिंतन की जड़ संरचनाओं को भी तोड़ा। इनकी परंपरा में स्थापित मान्यताओं के प्रतिरोध और नवचेतना का उद्‌घोष निहित है। "संस्कृत है कूप–जल, भाखा बहता नीर" की उद्‌घोषणा के माध्यम से कबीर ने संस्कृत की जड़ता और उसकी अभिजात्य सत्ता के विरुद्ध सशक्त विद्रोह किया तथा लोक–व्यवहार में प्रचलित बोलचाल की भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इसी प्रकार दलित साहित्य ने भी भाषिक आभिजात्यता को अस्वीकार करते हुए जनभाषा को अपनाया और प्रतिरोध की उस ऐतिहासिक परंपरा को आगे बढ़ाया। दलित साहित्य की भाषा, उसका सौन्दर्य और उसकी संवेदना उत्पीड़न और संघर्ष की कोख से जन्मी है। अतः पारंपरिक सौन्दर्यबोध और समृद्ध जीवन–सौन्दर्य के अभिजात प्रतिमानों के आधार पर उसका समुचित मूल्यांकन संभव नहीं है।

भाषा, शिल्प और अनगढ़ता का प्रश्न

दलित साहित्य की भाषा को 'अनगढ़' और 'कच्चा' कहकर उसकी आलोचना की गई। किंतु यही अनगढ़ता उसका स्वाभाविक सौन्दर्य है। यह भाषा उत्पीड़न और संघर्ष से उपजी है, अतः उसमें तीक्ष्णता और प्रतिरोध का स्वर स्वाभाविक है। इसलिए दलित साहित्य का मूल्यांकन पारंपरिक साहित्यिक मानदंडों से नहीं किया जा सकता। यह साहित्य वर्णव्यवस्था से त्रस्त समुदायों की चेतना से उपजा है। अतः इसकी भाषा, शिल्प और कथ्य भी उसी सामाजिक यथार्थ से निर्मित हैं। यह अस्मिता की खोज और सामाजिक विश्लेषण की प्रक्रिया है।

डॉ. धर्मवीर ने स्पष्ट किया कि दलित साहित्य अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करेगा; वह किसी पारंपरिक विमर्श की स्वीकृति पर निर्भर नहीं है। अतः किसी 'ब्राह्मण विमर्श' की अनुमति से नहीं चलेगा; वह अपना मार्ग स्वयं निर्मित करेगा। "कहा जाना चाहिए कि दलित साहित्य वैसे–वैसे नहीं चलेगा, जैसे–जैसे उसे ब्राह्मण विमर्श रास्ता देगा। वह किसान के खेत में पानी बलाने का काम नहीं है, बल्कि वह अपना रास्ता खुद तय करेगा। नाके लगाकर रास्ता नहीं दिया गया, तो वह नालियों, नालों, किनारों, बाँधों को तोड़कर सबके ऊपर से बहेगा, क्योंकि वह बरसात का पानी नहीं है, बल्कि हजारों साल का रूका हुआ 'सैलाब' और जलजला है। सामाजिक और साहित्यिक स्वास्थ्य के लिए भी अच्छा यही है कि दलित साहित्य पर कोई दबाव बनाने या उसके खिलाफ कोई नाकेबंदी खड़ी करने के बजाय, उसे उसके अपने असली रूप में आने दिया जाय।.....आखिर दलित साहित्य भारतीय संविधान के अनुच्छेदों के एकदम अनुकूल और उसके अधीन और उनकी सेवा में तत्पर होकर आगे बढ़ रहा है। इसमें किसी को डर कैसा?

स्वागत में कोताही क्यों? उसके आने से पहले उसे अपने शृंगारिक कपड़े क्यों पहनाए जा रहे हैं?"[6]

"जहाँ तक दलित साहित्य में सौन्दर्यशास्त्र का सवाल है, मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह एक समय विशेष की बात है। दलित मनुष्य भी एक पूरे मनुष्य के रूप में जन्म लेता है और जो जन्म लेता है वह दलित और द्विज से ऊपर होता है।.....वह फूल को सुन्दर कहना चाहता है, लेकिन उसी समय द्विजकारी ने उसकी छाती पर तीर गाड़ दिया है। यही कारण है कि अभी हम दलित मनुष्य का रूदन और आक्रोश ही देख पा रहे हैं।"[7]

उल्लेखनीय है कि दलित साहित्य दलित आन्दोलन का हिस्सा है और दलित आन्दोलन दलित चेतना का परिणाम, जो इतिहासबोध, वर्तमानबोध, यथार्थबोध और जीवनानुभव से समृक्त है। दलित आन्दोलन के समान ही दलित साहित्य वर्णाश्रम समाज व्यवस्था के बरक्श एक नई समाज व्यवस्था की कल्पना करता है । इसलिए वह नए समाज के मूल्यों में अपना सौन्दर्य देखता है और उसके लिए हो रहे संघर्षों की परंपरा में विश्वास करता है। यही उसका सौन्दर्य विधान है। दलित साहित्यकारों की इस संदर्भ में स्पष्ट मान्यता है–

"वे जीते हैं
साहित्य का इतिहास बनाने के लिए
हम जीते हैं
युग के इतिहास का निर्माण करने के लिए।"[8]

दलित साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह केवल सामाजिक मुक्ति या परिवर्तन के लिए ही संघर्षरत नहीं है, बल्कि उसने साहित्य की व्याख्या और मूल्यांकन के प्रचलित मानदंडों की सीमाओं को भी उजागर किया है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि पारंपरिक और स्थापित कसौटियाँ उसके सम्यक मूल्यांकन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। पश्चिमी तथा संस्कृत–आधारित सौन्दर्यशास्त्रीय मानदंडों पर आधारित जो आलोचनात्मक परिपाटी अब तक प्रचलित रही है, वह दलित साहित्य की प्रकृति और उद्देश्य को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकती।

चूँकि दलित साहित्य एक विशिष्ट सामाजिक अनुभव और ऐतिहासिक यथार्थ से उपजा साहित्य है, इसलिए इसे समझने और परखने के लिए विशिष्ट दृष्टिकोण और मानदंड अपेक्षित हैं। यह साहित्य नए मूल्यांकन–पैमाने की आवश्यकता को तीव्रता के साथ रेखांकित करता है और आलोचना–जगत से अपेक्षा करता है कि वह इन नवीन मानदंडों को स्वीकार करे। इस संदर्भ में दलित समीक्षक रामचंद्र का मत उल्लेखनीय है – "तीन दशक के हिन्दी दलित लेखक और आलोचना ने जो वैचारिकी निर्मित की है, उसका मूल्याकंन परंपरागत साहित्यिक मानदंडों और गुणवत्ता के आधार पर नहीं किया जा सकता। परंपरा, प्रशिक्षण और तकनीक यहाँ महत्वपूर्ण नहीं है। दलित लेखन का अनगढ़पन, खुरदरापन ही उसका सौन्दर्य है, उसकी बेबाकी उसका प्राण है जो हीनताबोध और रिरियाहट के तिलिस्म को तोड़कर सहानुभूति से भी मुक्त करती है। मानदंड, सौन्दर्यबोध और गुणवत्ता को आधार बनाकर दलित विमर्श को खारिज करने का सिलसिला रूकना चाहिए, अन्यथा साहित्य और समाज को बँटने देने के लिए तैयार रहना चाहिए।"[9]

वस्तुतः केवल स्थापित मानदंडों, पारंपरिक सौन्दर्यबोध और तथाकथित गुणवत्ता की कसौटियों के आधार पर दलित विमर्श को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति पर विराम लगना चाहिए; अन्यथा साहित्य और समाज दोनों में विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। 'दलित' महज एक शब्द से आगे एक सामाजिक यथार्थ है। साहित्य में इस यथार्थ की उपस्थिति न केवल स्वाभाविक है, बल्कि अनिवार्य भी है। समस्या तब उत्पन्न होती है, जब हम 'दलितत्व' को भी 'ललितत्व' की पारंपरिक पोशाक में ही देखने का आग्रह करते हैं, अथवा साहित्य की मान्यता के लिए 'ललित' रूप को अनिवार्य शर्त बना देते हैं। प्रश्न यह है कि शाश्वतता के आग्रह में हम समकालीन यथार्थ की ज्वलंत समस्याओं से स्वयं को क्यों विमुख कर लेते हैं? सहज, संप्रेषणीय भाषा और जीवन–सापेक्ष शिल्प के स्थान पर लाक्षणिकता और अतिबौद्धिकता की ओर हमारा झुकाव क्यों बढ़ता जाता है? दलित साहित्य की स्वीकृति के प्रश्न पर साहित्य–जगत में एकमतता क्यों नहीं है? और तथाकथित साहित्यिक मठाधीश इसे साहित्य के रूप में स्वीकार करने में संकोच क्यों करते हैं? दलित साहित्य का सौन्दर्यबोध उसके जीवन–मूल्यों पर आधारित है। समता, स्वतंत्रता और बंधुता—ये तीन मूल जीवन–मूल्य ही दलित साहित्य के वास्तविक सौन्दर्यमूल्य हैं, जिनकी स्थापना के लिए दलित साहित्यकार प्रतिबद्ध है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध मराठी दलित चिंतक शरण कुमार लिंबाले का विचार उल्लेखनीय है कि मनुष्य केवल सौन्दर्य और आनंद का आकांक्षी नहीं होता, बल्कि वह समता, स्वतंत्रता और न्याय के लिए भी उतना ही, बल्कि उससे अधिक व्यग्र रहता है। उनके अनुसार सामाजिक मूल्य कलामूल्यों से अधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं, क्योंकि वे मनुष्य के आत्मसम्मान और अस्तित्व से जुड़े होते हैं – "मनुष्य केवल आनन्द या सौन्दर्य का दीवाना नहीं होता, वह समता, स्वतंत्रता, न्याय या प्रेम के लिए भी दीवाना होता है। अर्थात् मनुष्य को कला मूल्य के समान ही, बल्कि उससे अधिक सामाजिक मूल्य भी प्राणों से प्रिय नजर आता है। समता, स्वतंत्रता, न्याय, प्रेम ये व्यक्ति और समाज की मूलभूत भावनाएँ हैं। वे आनन्द और सौन्दर्य से कई गुणा अधिक महत्वपूर्ण हैं।"[10]

इसी प्रसंग में लिम्बाले आगे लिखतें हैं – "आनंद अथवा सौन्दर्य के लिए दुनिया में कभी भी क्रांति नहीं हुई। समता, स्वतंत्रता, न्याय के लिए अनेकों सत्ता पलट हुए हैं। समता, स्वतंत्रता, और न्याय स्वीकार करने वाला साहित्य क्रांतिकारी होता है और वह मनुष्य और समाज को केन्द्रबिंदु मानता है। दूसरी और रंजनवादी साहित्य व्यक्ति की सुख–संवेदना जाग्रत करता है, तो क्रांतिकारी साहित्य व्यक्ति के आत्मसम्मान की चेतना जाग्रत करता है।"[11]

दलित साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों से जुड़ा आन्दोलन है। समाज और संस्कृति में व्याप्त असमानता को उजागर करना दलित साहित्य का उद्देश्य है। अतः सौन्दर्यशास्त्र की विवेचना के क्रम में सामाजिक यथार्थ को एक विशिष्ट घटक के रूप में स्वीकार कर उसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि का भी मानना है–

"सौन्दर्यशास्त्र की विवेचना में 'सौन्दर्य' कल्पना, बिम्ब और प्रतीक को प्रमुख माना है विद्वानों ने, जबकि सौन्दर्य के लिए 'सामाजिक यथार्थ' एक विशिष्ट घटक है। कल्पना और आदर्श की नींव पर खड़ा साहित्य किसी भी समाज के लिए प्रासंगिक नहीं हो सकता है। साहित्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्त्तमान की दारुण विसंगतियाँ ही उसे प्रासंगिक बनाती है। यदि कबीर आज भी प्रासंगिक लगते हैं तो वे सामाजिक स्थितियाँ ही हैं जो कबीर को प्रासंगिक बनाती है।"[12]

सामाजिक प्रतिबद्धता दलित साहित्य का प्रस्थान बिंदु है। सामाजिक मूल्य ही दलित साहित्य के सौन्दर्य मूल्य हैं। ऐसे में शिल्प और भाषा के जादुई स्पर्श का अवलम्बन लेकर, साहित्य की सामाजिकता को दरकिनार करते हुए, दलित साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास एक छद्म है। दलित साहित्य ने सवर्ण साहित्य के इस छद्म को तोडा है और बिलकुल सीधी–सपाट भाषा में सदियों से संतप्त, उपेक्षित एवं प्रताड़ित दलित समाज की अस्मिता, अस्तित्व और आत्मसम्मान को अभिव्यक्त किया है। "तू कहता कागज की लेखी मैं कहता आँखिन देखी" कबीर की यह आत्मअभिव्यक्ति दलित साहित्य की आंतरिक शक्ति है। यही इसका सौन्दर्य बोध है। डॉ. सी. बी. भारती ने ठीक ही लिखा है– "सामाजिक दायित्वों से जुड़ी रचनाधर्मिता व उसके प्रति सच्ची प्रतिस्पर्द्धा ही दलित साहित्य का सौन्दर्य विधान है। दलित

साहित्य लेखन अस्मिता की तलाश है। यह सामाजिक विश्लेषण की सतत् प्रक्रिया व स्थापित मान्यताओं के पुनर्परीक्षण व उनको छिन्न–भिन्न कर देने की एक अनबूझी प्यास है। वर्ण व्यवस्था से उपजी अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही दलित साहित्य का मूल स्वर है। यह साहित्य की खोई संवेदनाओं को कुरेदने, उकेरने व उन्हें शक्ति देने का व्यापक प्रयास है। जातिविहीन, वर्गविहीन समाज की संरचना ही इसका मूल प्रतिदेय है। यथा स्थिति के विरुद्ध यह परिवर्तन की हुंकार व सफल सुगबुगाहट है। दलित साहित्य में आप शब्दों का लालित्य, प्रेम का अवसाद, कोरा रोमांस, आध्यात्मिकता के रासरंग, अलंकारों व छंदों का लालित्य व उनकी दिमागी कसरत नहीं पायेंगें, अपितु पायेंगें यातना व त्रासदी से उपजे गरम सुलगते सवाल व एक सशक्त साहित्यिक हस्तक्षेप।"[13] ऐसा नहीं है कि दलित साहित्यकारों में सौन्दर्यबोध का अभाव है। उनमें भी सौन्दर्य के प्रति गहरी संवेदनशीलता और उत्कट अभिलाषा विद्यमान है। किंतु सामाजिक यथार्थ की विद्रूपताओं और अमानवीय अनुभवों ने उनकी रचनात्मक ऊर्जा को आक्रोश से भर दिया है। परिणामस्वरूप उन्होंने इसी आक्रोश को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। दलित साहित्य में आक्रोश विनाशकारी नहीं, बल्कि परिवर्तनकारी ऊर्जा के रूप में उपस्थित है; यही उसकी विशिष्ट पहचान भी है। यह आक्रोश अन्याय और विषमता के विरुद्ध प्रतिरोध की चेतना को स्वर देता है।

वस्तुतः दलित साहित्य एक व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलन है। अतः किसी भी प्रकार की संकीर्ण, पूर्वाग्रहपूर्ण या दुराग्रही मनोवृत्ति उसे क्षति पहुँचा सकती है। इसे समझने और मूल्यांकित करने के लिए खुले, संवेदनशील और न्यायपूर्ण दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

परंपरागत मानदंडों की अपर्याप्तता, वैकल्पिक सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता

दलित साहित्य का मूल्यांकन पारंपरिक साहित्यिक मानदंडों से नहीं किया जा सकता। यह साहित्य वर्णव्यवस्था से त्रस्त समुदायों की चेतना से उपजा है। अतः इसकी भाषा, शिल्प और कथ्य भी उसी सामाजिक यथार्थ से निर्मित हैं। दलित साहित्य ने स्थापित किया कि प्रचलित साहित्यिक मानदंड उसके मूल्यांकन के लिए अपर्याप्त हैं। यह साहित्य सामाजिक यथार्थ को सौन्दर्य का विशिष्ट घटक मानता है। अतः इसकी समीक्षा के लिए ऐसे मानदंड अपेक्षित हैं जो सामाजिक न्याय, अस्मिता और परिवर्तन की चेतना को केंद्र में रखें। दलित साहित्य ने स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिमी या संस्कृत–आधारित सौन्दर्यशास्त्र इसके मूल्यांकन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। यह साहित्य एक विशिष्ट सामाजिक अनुभव से उपजा है, अतः इसके लिए विशिष्ट मानदंडों की आवश्यकता है।

दलित साहित्य में सौन्दर्य का आधार सामाजिक यथार्थ है। कल्पना, प्रतीक और बिम्ब की अपेक्षा यहाँ जीवन–संघर्ष की सच्चाइयों को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसीलिए यह साहित्य स्थापित 'ललित' प्रतिमानों को चुनौती देता है और सौन्दर्य की परिभाषा को व्यापक बनाता है।

निष्कर्ष

दलित साहित्य स्थापित सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की माँग करता है। इसका सौन्दर्यबोध समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मानवीय मूल्यों पर आधारित है। यह साहित्य कलावाद की सीमाओं को तोड़कर जीवनवाद को स्वीकार करता है। स्थापित सौन्दर्यशास्त्रीय मानदंडों का पुनर्मूल्यांकन समय की आवश्यकता है। दलित साहित्य ने यह सिद्ध किया है कि सौन्दर्य केवल अलंकार, शिल्प और कल्पना में नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ की निर्भीक अभिव्यक्ति में भी निहित होता है। अतः दलित साहित्य का मूल्यांकन परंपरागत ललित प्रतिमानों से नहीं, बल्कि उसके सामाजिक यथार्थ और वैचारिक प्रतिबद्धता के आधार पर किया जाना चाहिए। यही दृष्टिकोण साहित्य और समाज दोनों को अधिक समावेशी, न्यायपूर्ण और प्रासंगिक बनाएगा।

संदर्भ सूची

1. रामचंद्र (सं.) – दलित साहित्य की विकास यात्रा, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, 2013, पृष्ठ 48
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 54
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 51
4. ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 48
5. ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 51
6. डॉ. धर्मवीर – कबीर नई सदी में (भाग 3), वाणी प्रकाशन, नईदिल्ली, 2000, पृष्ठ 173
7. डॉ. सत्यप्रेमी पुरुषोतम (सं.) – दलित साहित्य रचना और विचार, पृष्ठ 9
8. डॉ. एन सिंह (सं.) – शिखर की ओर, कर्मवीर भारती (पब्लिशर), जौनपुर, 1997, पृष्ठ 357–358
9. चौथीराम यादव (सं.) – उत्तर शती के विमर्श और हाशिए का समाज, मेधा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2014
10. रमणिका गुप्ता (सं.) – युद्धरत आम आदमी, जनवरी–जून 1998, पृष्ठ 120
11. रमणिका गुप्ता (सं.) – युद्धरत आम आदमी, जनवरी–जून 1998, पृष्ठ 120
12. ओमप्रकाश वाल्मीकि – दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, भूमिका से सादर
13. डॉ. एन सिंह (सं.) – शिखर की ओर, कर्मवीर भारती (पब्लिशर), जौनपुर, 1997, पृष्ठ 357–358